



International Journal of Advanced Academic Studies

E-ISSN: 2706-8927

P-ISSN: 2706-8919

www.allstudyjournal.com

IJAAS 2022; 4(4): 197-200

Received: 25-10-2022

Accepted: 30-11-2022

डॉ० राज कुमार राय

पूर्व गवेषक, स्नातकोत्तर संस्कृत
विभाग, ललित नारायण मिथिला
विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार,
भारत

मिथिला के वैदिक एवं लौकिक जीवन दर्शन

डॉ. राज कुमार राय

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय साहित्य के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे पूर्वज अपनी जीवनशैली को परिमार्जित और परिष्कृत करने के प्रति काफी सतर्क थे। वे जानते थे कि जो मनुष्य अपने जीवन में सदाचार से विचलित हो जाते हैं, वे कभी भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकते हैं। उनकी मान्यता थी कि सदाचार के आधार पर ही लौकिक जीवन में व्यवस्था स्थापित हो सकती है। जो दुष्कर्म करने वाले होते हैं, वे सत्य के मार्ग पर कभी नहीं चल सकते और न ही अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।¹ हमारे पूर्वज चाहते थे कि समाज के सभी लोग सुखी-सम्पन्न रहते हुए सौ वर्षों तक जीवित रहें।² उनकी इस कामना के पीछे मात्रा वैयक्तिक स्वार्थ न होकर मातृभूमि के प्रति प्रेम और सामाजिक सुरक्षा की भावना छिपी हुई थी। वे अपनी मातृभूमि को माता अपने को उसका पुत्र मानते थे।³ इस प्रेम के वशीभूत होकर ही वे चाहते थे कि वे दीर्घजीवी, बलवान्, अविजित और अक्षत रहकर ही अपनी विश्वम्भरा मातृभूमि की रक्षा कर सकेंगे। अपने इसी चिन्तन के कारण वे दीर्घायु प्रदान करने के साथ-साथ जन और धन दोनों के अभिवर्धन की प्रार्थना अपने देवताओं से किया करते थे।⁴ वे यह भी चाहते थे कि प्रत्येक परिवार में मधुर सम्बन्ध, शिष्टता, सौभाग्य और आमोद-प्रमोद बना रहे।⁵ ऐसा तभी हो सकता था, जब सभी लोग कल्याणकारी संकल्प से युक्त हों।⁶ सभी परस्पर मित्रावत् दृष्टि रखें।⁷ सभी परस्पर मित्रावत् दृष्टि रखें।⁷ सभी शुद्ध और पवित्रा आचरण वाले बनें।⁸

अपने पूर्वजों की इन विविधा कामनाओं पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी पूर्ति के लिए ही उन्होंने आश्रमीय जीवन- पद्धति को विकसित कर अपने जीवन को तदनुकूल ढालने का प्रयास किया, क्योंकि आश्रमीय जीवन-प्रणाली और उनकी कामनाओं में तादात्म्य सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। आश्रमीय जीवन शैली के चार चरणों- प. ब्रह्मचर्य का जीवन, पप. गृहस्थ का जीवन, पपप. वानप्रस्थ का जीवन और पअ. संन्यास का जीवन के माध्यम से उनकी सभी कामनाओं और दीर्घजीवन की परिकल्पना साकार होती हुई प्रतीत होती है।

ब्रह्मचर्याश्रम में ही ज्ञान-बल और शारीरिक बल का संचय होता है। गृहस्थाश्रम में सुखद परिवार की संकल्पना मूर्तरूप लेती है। यज्ञ, तप, त्याग, चिन्तन-मनन, आत्मोत्थान आत्मानुभूति और ईश्वर सान्निध्य की तैयारी वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम में ही होती है।

इस लौकिक सृष्टि में कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है जो कर्म न करता हो। जिस भी प्राणी को शरीर मिला है, उसको शरीर के माध्यम से कर्म करना ही पड़ता है। कर्म तो सभी प्राणी करते हैं, किन्तु सभी प्राणियों का जीवन एक समान नहीं होता। इसका कारण है कि सभी प्राणियों में चेतना समान रूप से विकसित नहीं पायी जाती है। मानव ही एक मात्रा विवेकशील प्राणी है, जिसमें चेतना पूर्णरूप से विकसित होती है। मानव एक आत्मचेतन प्राणी है।

Corresponding Author:

डॉ० राज कुमार राय

पूर्व गवेषक, स्नातकोत्तर संस्कृत
विभाग, ललित नारायण मिथिला
विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार,
भारत

वह अपने जीवन और अपने कर्मों के विषय में पूर्णरूपेण विचारशील बना रहता है। यही कारण है कि मानव को सृष्टि का मुकुट माना जाता है। मानव अपनी चिन्तनशीलता के आधार पर अपने जीवन के लक्ष्यों, कर्मक्षेत्रों और इन्हें संचालित करने वाले नियमों को खोजने में सक्षम होता है। प्राचीनकाल से ही मानव अपने जीवन के वैयक्तिक, सामाजिक, नैतिक, आध्यात्मिक आदि नियमों को ढूँढ निकालने हेतु प्रयासरत रहा है। इसी प्रयास के अन्तर्गत उसने कर्म-सिद्धान्त को खोज निकाला है। यह कर्म-सिद्धान्त कपोल-कल्पित या काल्पनिक नहीं है, बल्कि अनुभवाधारित और वैज्ञानिक है।

मानव-जीवन एक यात्रा है। जन्म से लेकर मृत्यु तक मानव को यात्रा ही तो करनी पड़ती है। कोई भी यात्रा बिना लक्ष्य के नहीं होती। मानव ने अपनी जीवन-यात्रा के लक्ष्यों को निर्धारित कर डाला है। जीवन-यात्रा की सफलता के लिए सद्कर्म (धर्म) अपेक्षित है। किसी भी यात्रा में जीवन-यापन के लिए अर्थ का उपार्जन करना भी परमावश्यक है। जीवन-यात्रा में सृष्टि-क्रम को आगे की ओर बढ़ाने के लिए काम अपेक्षित है। जीवन-यात्रा में धर्म, अर्थ और काम का सम्पादन करते हुए मानव शारीरिक और मानसिक रूप से थक जाता है। ऐसी अवस्था में उसे परम विश्रान्ति और परम शान्ति की आवश्यकता पड़ती है। जीवन-यात्रा के लौकिक कर्मों से वह विमुक्ति चाहता है। यही कारण है कि भारतीय मनीषियों ने जीवन के प्रमुख लक्ष्यों के रूप में चार पुरुषार्थों- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को निर्धारित किया है। ये सभी पुरुषार्थ कर्माधारित हैं। कर्म किए बिना जीवन-यात्रा सम्पन्न नहीं हो सकती।

लौकिक जीवन का अनुभव हमें यह बताता है कि क्रियाशील हुए बिना सांसारिक यात्रा सुखपूर्वक सम्पन्न नहीं हो सकती। अब प्रश्न यह उठता है कि कर्म किस प्रकार किया जाय? कर्म मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं- सद्कर्म और असद्कर्म। जीवन और कर्म के बीच गहरे और अटूट सम्बन्ध का दिग्दर्शन होता है।

याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार मिथिला के वैदिक तथा लौकिक जीवन की सम्बन्ध योजना का उद्देश्य है- लौकिक एवं पारलौकिक। दोनों ही दृष्टियों से परिष्कार एवं परिवार तथा समाज को सुसंस्कृत बनाना।

भारतीय संस्कृति ही मिथिलावासियों के लिए भी अनुकरणीय रही है। वैदिक संस्कृति के अनुरूप ही याज्ञवल्क्य ने भी विधि-विधान विहित किए हैं। उनका मनु आदि स्मृतिकारों से बहुत ही मतान्तर रहा है। लेकिन अन्ततः कर्मकाण्ड का उद्देश्य तो वही है जो वैदिक दृष्टियों का रहा है।

मिथिला की सांस्कृतिक चेतना के विकास में याज्ञवल्क्यस्मृति में विहित विधि-विधानों की अहम भूमिका रही है। वैदिक संस्कृति का मिथिला की लौकिक

संस्कृति से अटूट सम्बन्ध रहा है। इनके पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करने से पूर्व संस्कृति और कर्मकाण्ड के वास्तविक तात्पर्य को समझ लेना आवश्यक है। वैदिक संस्कृति का मूल लक्ष्य है- मानव-कल्याण। पाश्चात्य विचारक निल और वेन्थम ने मात्रा अधिकतम सुख की चर्चा की है, जबकि हमारे प्राचीन वैदिक मनीषियों ने सम्पूर्ण प्राणियों की कल्याण-कामना के साथ विश्व-बंधुत्व की भावना का बीजारोण किया है।⁹

मिथिला की संस्कृति प्राचीनकाल से ही वैदिक संस्कृति की अनुगामिनी रही है। वैयक्तिक उत्थान एवं सामाजिक जीवन में पूर्णता की प्राप्ति के लिए कृतसंकल्पित रही है। सामूहिक व्यक्तित्व के विकास द्वारा मानव-जीवन में सर्वोच्च स्थान की प्राप्ति कराने में भी संस्कृति की सार्थकता है।¹⁰ भारतीय दर्शन की चिंतन-परम्परा में जिस कर्म-सिद्धान्त एवं पुनर्जन्म की धारणा का विकास हुआ है, उनका सीधा सम्बन्ध मानव-जीवन से है। इसीलिए कर्म-सिद्धान्त एवं पुनर्जन्म की धारणा का विवेचन प्रस्तुत करने के पूर्व भारतीय विचारकों द्वारा निरूपित मानव-जीवन के स्वरूप पर विचार कर लेना समीचीन प्रतीत होता है।

बाह्य शरीर और आन्तरिक आत्मा ये दो मानव-जीवन के अनिवार्य तत्त्व हैं। वैदिक आर्यों ने अपने आत्मदर्शन में इस तत्त्व का साक्षात्कार किया था, जिसका लौकिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। इन दोनों तत्त्वों में से किसी एक के अभाव में मानव-जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। पितर भी वास्तविकता यही है कि मानव अपने शरीर से नहीं अपितु आत्मा से जीता है। आत्मिक जीवन ही मनुष्य का वास्तविक जीवन है। मानव को अपने शारीरिक ऐश्वर्य से मंडित बेचैन आत्मा की अपेक्षा ऐश्वर्य विहीन आत्मिक प्रसन्नता का वरण करना चाहता है। शारीरिक सुखोपलब्धि के बीच मानव-जीवन क्लान्त एवं अशान्त बना रहता है,¹¹ जबकि आत्मिक प्रसन्नता की स्थिति मानव-जीवन को नैसर्गिक शांति और शीतलता पहुँचाती है।¹²

वेदों में परलोक की स्वीकृति स्पष्ट रूप से की गई है। वेद यह स्पष्टतया स्वीकार करता है कि मर कर इस लोक से गए हुए हमारे पितरों की स्थिति पितृलोक में हुआ करती है।¹³ इससे सिद्ध होता है कि इस दृश्यलोक के अतिरिक्त लोक (परलोक) से इस लोक के साथ-साथ परलोक की भी सूचना मिलती है।¹⁴ कठोपनिषद् में कहा गया है कि अज्ञानी व्यक्ति ही मात्रा इस लोक की सत्ता को स्वीकार करता है और परलोक को नहीं मानता तथा अपनी इस मान्यता के कारण बार-बार जन्म-ग्रहण करता रहता है।

स्मृतिकार मनु का मत है-

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।

अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥¹⁵

स्मृतिकार आचार्य मनु का मत है कि परलोक में माता-पिता आदि कोई अन्य व्यक्ति सहायता नहीं करता, बल्कि एक मात्र धर्म ही सहायक होता है। अतः व्यक्ति को इस लोक में किसी भी प्राणी को पीड़ा न देते हुए, धीरे-धीरे धर्म का संचय करना चाहिए ताकि परलोक (स्वर्ग) की प्राप्ति हो सके।

धर्मसूत्रों व दर्शनों के बाद धर्म का सर्वतोभावेन विकसित व परिष्कृत तथा व्यापक रूप हमें स्मृतियों में मिलता है। जहाँ मनुष्य के जन्म से लेकर अन्त तक उसके प्रत्येक क्रिया-कलापों में आहार-व्यवहार तथा व्यवस्था में धार्मिक भावना का निर्देश है। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति में मानव-जीवन के उन सभी आवश्यक अंगों पर प्रकाश डाला गया है, जिन पर जीवन की सही गतिविधि निर्भर है।

धर्म को केवल कर्म, जाति व व्यक्ति की संकुचित सीमा में न रखकर उसे सार्वभौम बना दिया गया। मनुष्य किसी देश में रहे, वह चाहे किसी जाति में रहे या किसी भी वर्ण या धर्म में रहे, उसे अपने अभ्युदय के लिए कुछ निर्दिष्ट नियमों का अवश्य पालन करना चाहिए-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृतियों में धर्म के दस उपादानों या लक्षणों का निर्देश किया गया है, जो सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक हैं। जैसे- स्वाध्याय में निरन्तर रहना या सत्य बोलना, यह धार्मिक गुण किसी देश विशेष या जाति विशेष के लिए ही हितकर हो, ऐसी बात नहीं है, अपितु विश्व के किसी भी देश, किसी भी काल, किसी भी जाति के लिए यह धार्मिक नियम लाभदायक ही है।

वास्तव में मर्यादित संस्कृति की स्थापना ही प्राचीन वैदिक आर्य दृष्टियों एवं महर्षि याज्ञवल्क्य का भी परम उद्देश्य था। संस्कृति वह प्रक्रिया है, जिससे किसी देश के सर्वसाधारण का व्यक्तित्व निष्पन्न होता है। इस निष्पन्न व्यक्तित्व के द्वारा लोगों को जीवन और जगत् के प्रति एक अभिनव दृष्टिकोण मिलता है। प्राचीन आर्यकवियों ने वैदिक साहित्य में अभिनव दृष्टिकोण के साथ अपनी नैसर्गिक प्रतिभा का सामंजस्य करके सांस्कृतिक मान्यताओं का मूल्यांकन करते हुए, उसकी उपादेयता और हेयता का प्रतिपादन किया है। उन्होंने संस्कृति के सत्पक्ष का समर्थन करते हुए उसे सर्वजनग्राह्य बनाया है। कवियों का यह व्यापार कवि-कर्म या साहित्य है। स्मृति-साहित्य में सत्पक्ष से समस्त सृष्टि को परिचित कराया गया है। उसके चित्त में रस की स्रोतस्विनी प्रवाहित होती रहे, इसके लिए अनेक

धार्मिक-कृत्यों का विधान विहित कर सतत स्नातक को क्रियाशील बनाये रखने का प्रयत्न किया गया है। वैदिक कर्मकाण्डों की अनुकृति ही स्मृतिग्रन्थों में दृश्यमान होती है।

वैदिक आर्यों की एक सुसंस्कृत जीवन-पद्धति थी। उनमें ब्राह्मण और दृषि ज्ञान-निधि के संचेता थे, जिसे वे ब्राह्मण कहते थे। आर्यों का क्षत्रिय वर्ग क्षत्र (प्रजा-रक्षक-शक्ति) का संवर्धन करता था। उनका विश्व वर्ग मध्यम वर्गीय समाज था, जो व्यवसाय रूप में कृषि और पशुपालन करता था। उन्हीं आर्यों में शिल्पी वर्ग था, जो रथ, वस्त्र, अलंकार आदि बनाता था। इन आर्यों का दास, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच आदि वर्गों से मुठभेड़ हुई। आर्यों ने इनको मिटाया नहीं, अपने में मिला लिया और उपर्युक्त व्यवसायों को अपनाकर ब्राह्मण आदि वर्णों में सम्मिलित होने की सुविधा दी। स्वभावतः अधिकतर लोग अपनी पुरानी रीति पर चलते हुए शिल्पी बने रहे, कुछ क्षत्रिय बने और संख्या में उनसे अधिक बने वैश्य, जिन्होंने अपने को आर्यों के द्वारा प्राचारित इस वर्ण-व्यवस्था में नहीं बाँधा। वे स्वतंत्रा जीवन बीताते हुए समाज से बाहर बने रहे। आज भी वे अपनी स्वतंत्रा सत्ता बनाए हुए हैं। असुर, पिशाच, राक्षस आदि लोगों के जन-समुदाय भारत में भड़े पड़े हैं और उनका स्वतंत्रा जीवन और संस्कृति है।¹⁶

वैदिक समाज की रचना का श्रेय ब्रह्मसंस्कृति के अनुयायी ब्रह्मचारियों को है, जिनके विषय में अथर्ववेद में कहा गया है-

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे।
गन्धर्वा एनमन्वायन त्रायस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्
सहस्राः॥¹⁷

(ब्रह्मचारियों का अनुसरण देव गन्धर्वादि ने किया) इस प्रकार महर्षि याज्ञवल्क्य भी वैदिक संस्कृति के ही अनुयायी हैं।

भारतीय आर्य विचारकों को भिन्न-भिन्न संस्कृति और भाषावालों को एकसूत्रा में गूँथकर उनका व्यवस्थापन वर्ण-व्यवस्था नाम से किया। आर्यों में यह वर्ण-व्यवस्था बीज रूप में पहले से ही थी। उन्होंने आर्येत्तरों को भी अपनी सामाजिक-व्यवस्था में गुण-कर्म-विभागशः समाविष्ट होने का अवसर दिया। यह उनकी सामाजिक निर्माण की अप्रतिम योग्यता का परिचायक है। असंख्य लोगों को और विविध संस्कृतियों के अनुयायियों को अपनी वर्ण-व्यवस्था में लाने का उपक्रम उदार और व्याग्रमयी बुद्धि से किया गया। आर्यों ने अपने वंशीय रक्त की विशुद्धता का ध्यान न रखते हुए अन्य सांस्कृतिक वर्गों से विवाह सम्बन्ध किए, उनको अपनी भाषा पढ़ाई, अपने धार्मिक कार्यकलापों में निमन्त्रित किया और उनके

धार्मिक विधि-विधानों को भी अपनाया। परिणाम यह हुआ कि जो आर्य सबको आर्य बनाना चाहते थे। उन्होंने स्वयं अपना आर्य नाम छोड़ दिया और हिन्दू बन गए। तभी वे सबको एक साथ लेकर चल सके।

सन्दर्भ:

1. दृतस्य पन्था न तरन्ति दुष्कृतः। दृग्वेद- 9/73/6
2. (स्याम शरदः शतम), कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। यजुर्वेद- (क)-36/24, (ख) पृथ्वीसूक्त- 12/62 “दीर्घनः आयुः”
3. “माताभूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।” अथर्ववेद- पृथ्वीसूक्त- 12.12
4. “सिञ्चतु प्रजया च धनेन च।” अथर्ववेद- पैप्लाद 6,18
5. अथर्ववेद- 3.26.3
6. अथर्ववेद- 3.6, यजुर्वेद, 64.1
7. दीर्घमायुः कृणोतु मे। अथर्ववेद- 36.18
8. दृग्वेद- 5.51.1 (शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः)
9. यजुर्वेद- 7/14
10. “स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्वेदाः। स्वस्ति नस्ताक्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिदधातु॥” सामवेद- 21/01/09
11. भारतीय चिन्तन और मानवजीवन का स्वरूप (रेलिजन एण्ड सोसाइटी, पृ.61)
12. आपस्तम्ब धर्मसूत्रा- 1.7.2
13. “पितृणां लोकं गच्छन्तु ये मृताः”, अथर्ववेद- 12.2.45, 18.4.48
14. अथर्ववेद- 19.54.5
15. “परलोक सहायार्थम्” परलोकं नया मनुस्मृति- 4.2.238, 239, 243
16. Encyclopaedia of Religion and Ethics.
17. अथर्ववेद- 11.5.2